REVIEW OF RESEARCH

प्राचीन भारत में शैक्षिक मूल्यांकन की प्रक्रिया एवं उसका आधुनिक परिप्रेक्ष्य

डॉ. श्रुति आनन्द

असिस्टेण्ट प्रोफेसर–शिक्षाशास्त्र ,
आर्य कन्या डिग्री कॉलेज,
इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, प्रयागराज.

ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.7631(UIF)
UGC APPROVED JOURNAL NO. 48514
VOLUME - 8 | ISSUE - 8 | MAY - 2019

प्रस्तावना :–

शिक्षा मनुष्य के विकास का एक महत्वपूर्ण आधार है। यही कारण है कि इसकी प्रवृत्ति गत्यात्मक रही है तथा समय–समय पर इसमें परिवर्तन तथा नवाचार दिखाई देते रहे है। शिक्षा का सम्बन्ध व्यक्ति के चहुँमुखी विकास (Over All Development) से जुड़ा है और यह इसीलिए औपचारिक, अनौपचारिक तथा निरौपचारिक, तीनों ही स्वरूपों में दृष्टिगत होती है। शिक्षा– सीखने से जुड़ी है और सीखना–व्यवहार परिवर्तन से। इसका अर्थ यह है कि यदि व्यक्ति में सकारात्मक परिवर्तन हो रहा है, वह जिस भी ज्ञान को प्राप्त कर रहा है इसके सापेक्ष उसके व्यवहार में कितना परिवर्तन दिखाई दे रहा है इस आधार पर जब हम विद्यार्थी के विषय में एक निर्णय तक पहुँचते है तो कह सकते है कि वह सीख रहा है और यह सीखना ही शिक्षा है। व्यवहार का होना वाला परिवर्तन तथा व्यवहार में होने वाला परिवर्तन विद्यार्थी के पूर्व के व्यवहार के सापेक्षिक ही अध्ययन का विषय बनता है अर्थात् उसके पूर्व ज्ञान से नवीन ज्ञान के मध्य जो भी अन्तर दृष्टिगत होता है या उसके व्यवहार के परिवर्तन पर जो निर्णय लिया जाता है वही उसका अर्जन है अथवा उसकी उपलब्धि होती है।

सामान्यतया किसी वस्तु या व्यक्ति के भौतिक गुणों के लिए हमारे पास मापन की अनेक इकाइयाँ है जो उस गुण के या विशेषता का वर्णन कर देता है। परन्तु मनुष्य या विद्यार्थी के व्यवहार का परिवर्तन या उसका अर्जन या उसकी उपलब्धि या उसका सीखना इन सभी गुणों या विशेषता का मापन एक अत्यन्त दुष्कर कार्य ही नहीं वरन् इनके लिए वैसी मापन इकाइयाँ भी आबंटित नहीं हुई क्योकि यह कोई भौतिक गुण न होकर आंतरिक प्रयासो से निर्मित गुण होता है। अतः किसी गुण या अर्जन या व्यवहार परिवर्तन अथवा सीखना किस उद्देश्य को ध्यान में रखकर हुआ, वह कहाँ तक लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हुआ तथा उसकी विश्वसनीयता या उसकी वैधता कितनी है यदि इन सभी परीक्षणीय बिन्दुओ को आधार बनाकर यदि सर्वोपयुक्त शब्द प्रयोग किया जाता है मापन के स्थान पर तो वह मूल्यांकन है। क्योकि इसक माध्यम से इन सभी परिणामों की वांछनीयता को ज्ञात कर अंक प्रदान किया जाता है। पश्चिमी विचारक एन.एच. रैमर्स तथा एन.एल. गेज का मानना है कि ''मूल्यांकन में व्यक्ति अथवा समाज अथवा दोनों ही दृष्टि से क्या अच्छा अथवा क्या वांछनीय है का विचार या लक्ष्य निहित रहता है।'' एन.एस. डांडेकर ने मूल्यांकन को छात्रों द्वारा शैक्षिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की सीमा ज्ञात करने की क्रमबद्ध प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया। NCERT में, मूल्यांकन को शिक्षण उद्देश्यों अधिगम क्रियाओ तथा व्यवहार के परिवर्तन से संदर्भित किया है। इस प्रकार मूल्यांकन छात्र की सीखने की शक्ति तथा उसके अर्जन से जुड़ा था।

प्राचीन काल में परीक्षा एवं मूल्यांकन के विभिन्न स्वरूप –

वैदिक काल में छात्रों के द्वारा

अध्यापक का चयन किया जाता था कि वे किस अध्यापक से शिक्षा ग्रहण करना चाहते है। अध्यापक चयन करते समय छात्र उसकी ख्याति तथा विद्वता का मूल्यांकन करता था तत्पश्चात वह उस गुरूकुल में प्रवेश लेता था। यह मूल्यांकन उसे, किस विषय का अध्ययन करना है, तथा उसका उद्देश्य क्या है, इसके आधार पर तथा उसके गुरू के प्रति समाज की क्या राय है तथा अन्य शिष्यों की क्या राय है इस पर आधारित हेाता था अर्थात मूल्यांकन, अवलोकन के आधार पर किया जाता था। इसी प्रकार गुरू, शिष्य का चुनाव करते समय यह ध्यान रखता था कि कौन सा छात्र अध्ययन के प्रति ईमानदार, उत्साही और अच्छे आचरण वाला है इन सभी गुणों का आकलन कर गुरू उसको प्रवेश देता था तथा उसके कृत्य उसके आचरण तथा उसकी कार्यशैली को निरन्तर देखकर मूल्यांकन करता था। यह मूल्यांकन सतत मूल्यांकन के रूप में होता था। अध्ययन – अध्यापन शैक्षिक उद्देश्यों के लिए किया जाता था जिसमें उत्कृष्ट छात्र ही प्रवेश की परीक्षाओं के साथ ही अन्य परीक्षाओं में भी सफल हो पाते थे।

वैदिक काल में अत्यन्त दुष्कर परीक्षा ली जाती थी जिसमें छात्र को अपने चयन के लिए परीक्षा देनी होती थी। यह परीक्षा आंशिक रूप से नैतिक और बौद्धिक होती थी निरूक्त में यह उद्धरण है कि यदि वह नैतिक रूप से सफल नहीं होता या तो उसे असफल घोषित कर दिया जाता था।[1]

प्राचीन काल में समेकित शिक्षा की व्यवस्था थी जिसमें सामान्य विद्यालय में भी मन्द या सुस्त छात्रों को अध्ययन का अवसर दिया जाता था। ए.एस. अल्टेकर के अनुसार सामान्य विद्यालयों में सुस्त या मन्द छात्रों का परीक्षण किया जाता था और फिर उन्हे यह सलाह दिया जाता था कि वे अपनी पढ़ाई को रोक दे या समाप्त कर दे। यह सलाह उन छात्रों को तब दी जाती थी जब वे अनेक प्रयास एवं परीक्षणों के माध्यम से यह मूल्यांकित कर लेते थे कि उनमें किसी भी प्रकार का सुधार नहीं होगा[2] अर्थात निरन्तर सत्त मूल्यांकन के द्वारा उस काल में गुरू या शिक्षक अपने छात्र के बीच में मन्द तथा उच्च बुद्धिलब्ध वाले छात्र की पहचान कर लेता था। मूल्यांकन का एक अन्य उदाहरण नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश हेतु प्रवेशार्थियों को लेकर प्राप्त होता है जिसमें यह बताया गया है कि नालन्दा में प्रवेश लेने के इच्छुक प्रवेशार्थियों की संख्या बहुत अधिक होती थी इसलिए प्रवेश परीक्षा ली जाती थी। इस प्रवेश परीक्षा में मूल्यांकन के पश्चात दस में से तीन ही छात्र अर्ह पाए जाते थे। नालन्दा तथा विक्रमशिला में प्रवेश परीक्षा के मूल्यांकन के लिए विशेष प्रोफेसरों की नियुक्ति की जाती थी जो छात्रों की क्षमता, ग्राह्य क्षमता उसकी यथार्थतता ईमानदारी का मूल्यांकन करते थे। उनकी कसौटियों पर उत्तीर्ण छात्रों को ही संस्था में प्रवेश दिया जाता था[3]।

वैदिक काल में व्यावसायिक शिक्षा के लिए छात्र का मूल्यांकन धार्मिक रीति–रिवाजों के आधार पर किया जाता था। उपनिषद तथा बुद्ध सूत्रों में उल्लेख प्राप्त होता है कि गुरू छात्रों के मध्य विषय रखता था तथा तुलना एवं अवलोकन के आधार पर मूल्याकंन करता था मन्द या निष्क्रिय छात्रों को ध्यान से सुनने तथा समझने का निर्देश देते हुए नए तथ्यों के माध्यम से, जो वे पहले सेजानते थे, उनसे तुलना करके उन्हे पुनः समझाने का प्रयास करते थे।[4] इस प्रकार वे अच्छे तथा कमजोर छात्रों के बीच में तुलना करके अपनी शिक्षण विधियों का भी मूल्यांकन करते थे तथा उसे पुनः परिवर्तित कर मन्द छात्रों के लिए नवीन तकनीकों का प्रयोंग कर उन्हे शिक्षण प्रदान करते थे। मूल्यांकन का आधुनिक स्वरूप सतत मूल्यांकन के रूप में प्रदर्शित हो रहा है जिसका पूर्व रूप प्राचीन शिक्षण पद्धति के रूप में प्राप्त होता है। सतत मूल्यांकन का एक और उदाहरण इस रूप प्राप्त होता है कि वैदिक काल में या प्राचीन काल में प्रतिदिन छात्रों की परीक्षा ली जाती थी अर्थात् प्रतिदिन उनका मूल्यांकन होता था और तब तक दूसरा पाठ नहीं पढ़ाया जाता था जब तक पहला पाठ पूर्णतया याद नहीं हो जाता था।

प्राचीन काल में परीक्षा का कोई निश्चित अंतराल नहीं होता था और न ही सामूहिक कक्ष उन्नति ;उें चतवउवजपवदद्ध होता थी। प्राचीन काल में वार्षिक परीक्षा जैसा कोई प्रावधान नहीं था। बुद्धिमान छात्र समय से अपना पाठ समाप्त कर लेते थे। इस काल में वार्षिक या समयावधि की परीक्षाएँ नहीं होती थी। केवल अध्यापक की संतुष्टि पर मौखिक परीक्षाएँ होती थी।

प्राचीन काल में शलाका परीक्षाऐ होती थी जिसमें यादृच्छिक रूप से किसी भी प्रश्न को पूछ लिया जाता था। यह परीक्षा प्रणाली आज की **'योगात्मक'** मूल्यांकन प्रक्रिया के समकक्ष थी। जिसमें समाज के विद्वान सम्मिलित होते थे और वे प्रश्न पूछते थे। इसे ही समावर्तन संस्कार के नाम से जाना जाता है। इस परीक्षा के अन्तर्गत यदि छात्र अपने उत्तर से विद्वत् जन को संतुष्ट कर देता था उसे 'उत्तीर्ण' की डिग्री प्रदान की जाती थी, परन्तु इस परीक्षा की एक विशेषता यह भी होती थी कि यह 'उत्तीर्ण' उपाधि मात्र बाहरी विद्वानों तथा

उनके विचारों के आधार पर प्रदान तो की जाती थी परन्तु विद्यार्थी के, अपने अध्यापक के संतुष्ट होने तथा उसके सलाह पर दी जाती थी। इस प्रकार आन्तरिक मूल्यांकन को अधिक वरीयता दी जाती थी। कदाचित आज इसीलिए एक बार फिर आन्तरिक मूल्यांकन को महत्व दिया जा रहा है क्योकि वर्तमान में यह माना जा रहा है कि बाह्य परीक्षक छात्रों की परीक्षा का मूल्यांकन स्थूल रूप से ही कर सकते हैं जबकि उसका शिक्षक निरन्तर उसकी प्रगति को देखता रहता है। प्राचीन काल में मूल्यांकन की इस परिपाटी का आज प्रयोग हो रहा है।

प्राथमिक शिक्षा प्राप्ति के पश्चात् उच्चशिक्षा की प्राप्ति के लिए भी परीक्षा निर्धारित थी। जिसका उद्देश्य यह मूल्यांकन करना हेाता था कि वह छात्र उच्च शिक्षा प्राप्त करने योग्य है अथवा नहीं। इसके लिए उन्हे वैदिक शिक्षा को सही रूप से ग्रहण किया है या नहीं इसकी परीक्षा देनी पड़ती थी और वही उनके प्रवेश का आधार होता था।

स्टार्क ने लेखन के मूल्यांकन की प्रक्रिया को बताते हुए लिखा है कि विद्यार्थियों को सर्व प्रथम रेत पर लिखना सिखाया जाता था जब अध्यापक यह देख कर आश्वस्त हो जाता था कि अब छात्र सभी अक्षर सही से बना रहा है तो वह उसे ताड़ का पत्ता ;च्संउ स्मंद्धि देता था[5] और उस पर लिखने को कहता था। इस प्रकार वह लेखन व अक्षर के सुचारू रूप के बनने से यह मूल्यांकन कर लेता था कि अब छात्र की मांसपेशियाँ कलम पकड़ने के योग्य हो गई है। अन्यथा वह उसे पत्ते पर लिखने नहीं देता था। इसी प्रकार चिकित्सा के क्षेत्र में जाने वाले छात्रों की भी लिखित एवम् मौखिक परीक्षा होती थी और जिसमें विषय ज्ञान के साथ ही उसके संस्कृत ज्ञान का भी मूल्यांकन किया जाता था। क्योंकि उस समय के सभी साहित्य संस्कृत भाषा में ही थे।[6]

वैदिक शिक्षा पद्धति में अध्यापक वैदिक छंद से एक बार में मात्र दो ही शब्द का उच्चारण करता था और तत्पश्चात् वह छात्र से उसका उच्चारण उसी प्रकार से करने को कहता था। यदि छात्र वह नहीं कर पाता था तो अध्यापक शब्द को कम करके एक कर देता था[7]। इसका अर्थ यह था कि अध्यापक नित्य प्रति छात्र का मूल्यांकन करता रहता था। जब वह छंद या पद्य एक छात्र को पूरा याद हो जाता था तो यही प्रक्रिया गुरू के द्वारा दूसरे छात्र पर भी दुहराई जाती थी। इस प्रकार प्रत्येक छात्र का सतत् मूल्यांकन तथा आंतरिक मूल्यांकन भी गुरू करता था। यह व्यक्तिगत मूल्यांकन के साथ–साथ सामूहिक मूल्यांकन का भी एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। इसी प्रकार मूल्यांकन का एक स्वरूप पुनरावृत्ति के प्रश्नों के माध्यम से भी दृष्टिगत होता है जहाँ गुरू छोटे–छोटे भागों में पाठ्यवस्तु का अध्ययन कराता था, याद कराता था और जब वह पूरा कंठस्थ हो जाता था तो गुरू उसे सुनता था जब वह पूर्णतया आश्वस्त हो जाता था तभी वह आगे बढ़ता था। यह क्रिया वह प्रश्नों के माध्यम से करता अर्थात संरचनात्मक मूल्यांकन की प्रक्रिया वैदिक काल में भी प्रदर्शित होती थी। प्रत्येक दिन छात्रों ने जो पढ़ा था उसे सुनाना पड़ता था तत् पश्चात् ही वे आगे अध्यापन कर पाते थे। अल्टेकर का मानना है कि 'वैदिक ऋषियों ने छात्रों की बुद्धि को तीव्र करने के लिए तथा छात्रों को शीघ्र कुछ भी याद हो इसके लिए या पद्य या छंद के रूप में कुछ भी पढ़ेगे तो वह व्यक्ति तीव्रता से स्वीकार एवं याद कर लेता है इसीलिए उन्होने पुस्तकों की अपेक्षा शिक्षण में कण्ठस्थीकरण को अधिक महत्व दिया'। आज भी मनन एवं गेयता के साथ ही शीघ्र स्मरण होगा ऐसा माना जाता है।

प्राचीन काल में विभिन्न प्रकार की शिक्षणेतर गतिविधियाँ भी होती थीं जैसे वाद–विवाद, भाषण आदि, और इनका मूल्यांकन बोलने की शैली तथा वाक्पटुता के आधार पर किया जाता था। इस प्रकार मूल्यांकन किन–किन स्थितियों पर करना है इसका मानक एवं मापनी भी निर्धारित थी।[8] इस प्रकार विभिन्न उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि भारत में प्राचीन काल से योगात्मक तथा संरचनात्मक दोनों प्रकार की मूल्यांकन प्रणालियाँ उपलब्ध थी और छात्रों का सतत् मूल्यांकन किया जाता था।

आज आधुनिक युग में शिक्षाविदो द्वारा मूल्यांकन की पद्धति में निरन्तर नवाचार की चर्चा की जा रही है। लेखक का यह मानना है कि भारतीय शिक्षण पद्धति छात्र केन्द्रित न होते हुए भी छात्रों के सर्वागीण विकास का सुचारू रूप से मूल्यांकन करने में सक्षम थी तथा विद्यार्थियों को ज्ञान, अवबोध तथा क्रियात्मकता से आगे बढ़ कर संप्लेषण, विश्लेषण तथा मूल्यांकन अंतिम चरण तक पहुँचती थी। छात्र स्वतः भी स्वमूल्यांकन में रत रहता था। मूल्यांकन का एक महत्वपूर्ण उदाहरण महाभारत का है जिसमें गुरू द्रोणाचार्य अपने सभी शिष्यों को पक्षी की आँख पर निशाना लगाने को कहते हैं। गुरू सभी से निरन्तर पूछते हैं कि तुम्हें क्या दिखाई दे रहा है? सभी छात्र पक्षी और उसके विभिन्न अंगो के दिखने की बात करते हैं परन्तु अर्जुन से पूँछने पर अर्जुन का उत्तर

''कि मुझे केवल पक्षी की आँख दिख रही है'' गुरू ने एक बार में ही उसे कुशल धनुर्धर की उपाधि दे दी और यही उत्तर ही उसका मूल्यांकन था।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति में प्रत्येक पक्ष पर मूल्यांकन होता था और आधुनिक युग में नई पद्धति के नाम से जो सतत् मूल्यांकन, योगात्मक तथा संरचात्मक मूल्यांकन की चर्चा की जाती थी उसकी प्रत्यक्ष प्रमाण भारतीय शिक्षण पद्धति में पूर्व से ही व्याप्त थी।

संदर्भ

1. निरूक्त II.-4
2. अल्टेकर ए.एस. एजूकेशन इन एंसियेण्ट इंडिया, Ch.-IV, Pg-84
3. बोस, इडियन टीचर्स इन बुद्धिस्ट यूनिवर्सिटी Pg. 47, 60, ए.एस अल्टेकर . एजूकेशन इन एंसियेण्ट इंडिया, Ch.-IV, Pg-84
4. जातक – 124
5. स्टार्क, वर्नाकुलर एजूकेशन Pg-28-48
6. सुश्रुत Ch.-IV, Pg-448
7. ऋक प्रतिशाख्य Patala-XV
8. ए.एस अल्टेकर एजूकेशन इन एंसियेण्ट इंडिया, Ch.-VI, Pg-162

LBP PUBLICATION